समीक्षा: हिंदी के दो निबंध

उपभोक्ता की सस्कृति:श्यामाचरण दुबे
भाषा, बोली, पर्यावरण: अनुपम मिश्र



राम प्रकाश द्विवेदी

उपभोक्ता की संस्कृति

Site: Virtual Learning Environment
Course: निबंध
Book: उपभोक्ता की संस्कृति
Printed by: Guest User
Date: Sunday, 17 July 2016, 01:40 PM

Table of Contents

विषये परिचय

विषय : हिन्दी

अध्याय नाम : उपभोक्ता की संस्कृति

अध्याय लेखक : रामप्रकाश द्विवेदी

कालेज/ विभाग : भीमराव अम्बेडकर कॉलेज (हिंदी विभाग), दिल्ली विश्वविद्यालय

विषय प्रवेश

आप पहले भी निबंध पढ़ते रहे हैं। निबंध लिखने के लिए भी विभिन्न परीक्षाओं में जरूर आता रहा होगा। इसलिए यह विधा आपसे बिल्कुल अपरिचित नहीं हैं। इस इकाई में हम हिंदी निबंध के बदलते स्वरूप और उसकी वैचारिकी में आयी तब्दीलियों की चर्चा करेंगे। हिंदी निबंध अपने **उद्भव काल** से ही सामाजिक विचारणा का केंद्र रहा है। भारतेंदु युग में एक सशक्त और मुक्कमल विधा के रूप में इसका विकास हुआ। **समाज सुधार आंदोलन** और राजनीतिक गतिविधियों की बढ़ती सरगर्मी के साथ साहित्य की यह विधा परिपक्व होती चली गयी। **स्वाधीनता आंदोलन** ने इसमें नया ताप और तेवर पैदा किया। निबंध एक विचारवाही विधा मानी जाती है। कल्पना और यथार्थ के शिल्प में बुनी गद्य की यह विधा मोटे तौर पर इतिहास, समाज, संस्कृति,राजनीति और भाषा के बारे में हमारी समझ को पुख्ता बनाने का काम करती रही है। चौधरी बदरीनाराण प्रेमघन, बालमुकुंद गुप्त, श्यामसुंदर दास, महावीर प्रसाद द्विवेदी,
रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय आदि हिंदी निबंध के सशक्त हस्ताक्षर माने जाते हैं। पिछली सदी का अंतिम दशक क्रांतिकारी बदलावों के साथ उपस्थित होता है, जिसके चलते साहित्य की हर विधा का भावबोध बदला। निबंध भी इससे अछूता नही रहा। इक्कीसवीं सदी में **वैश्वीकरण** एक नयी परिघटना है। इसे समझने की कोशिश करेंगे। हिंदी निबंधकार कैसे इस नयी परिस्थिति को परिभाषित कर रहा है, यह भी जानने का प्रयत्न होगा। प्रो०श्यामाचरण दुबे और अनुपम मिश्र समाजकर्मी और सामाजिक विचारक हैं। निबंध लेखन उनकी इसी गतिविधि का परिणाम है। इसलिए उनके निबंधों का तेवर आंदोलनधर्मी है। **बाजार व्यवस्था** ने समाज के भीतरी ताने-बाने को झकझोरा है। उसे पहचानने का उद्यम इन निबंधों में है। उक्त दोनों निबंधकार अपनी एक नयी शैली का विकास करते हैं। यह है भाषा की सहजता और संप्रेष्यता की शैली, जहाँ ज्ञान का प्रदर्शन नहीं वरन लोगों में जागरूकता का संचार करना अधिक महत्तवपूर्ण है। दोनों निबंधों में यह भी देखा जा सकता है कि इनका **कलेवर** छोटा है। कम शब्दों में अधिक कहने की क्षमता निबंधकार का एक महत्तवपूर्ण गुण माना जाता है। इन दोनों निबंधकारों में यह सहज ही मौजूद है। दुनिया बदल रही है, इसलिए हमारा नजरिया भी। नयी सोच सृजन की नयी संवेदना और **भाषा का नया विन्यास** गढ़ती है। हिंदी निबंध में भी इन बदलाओं को परिलक्षित किया जा सकता है। भारतेंदु युगीन निबंधों की तुलना में समकालीन निबंध बिल्कुल बदले हुए मिजाज के हैं। श्यामाचरण दुबे और अनुपम मिश्र के निबंध वैश्वीकृत होते समाज की चुनौतियों की उपज हैं। यहाँ विचारों की बनावट दार्शनिक न होकर समाज की वास्तविक समस्याओं का फल है। मुद्दे और सरोकार ही भाषा के रूप में ढल कर आकार ग्रहण कर लेते हैं। साहित्य-शोषण और गुलामी के विरोध में निरंतर अपना स्वर बुलंद करता आया है। श्यामाचरण दुबे और अनुपम मिश्र अपने निबंधों के द्वारा इसकी पुनरावृत्ति करते हैं। लेकिन, बिल्कुल नए ढंग से। वर्चस्व कायम करने वाली शक्तियाँ निरंतर परिष्कृत औजारों का इस्तेमाल कर रही हैं, इसलिए निबंधकार को भी अधिक सजग होना पड़ा है। ये दोनों निबंधकार अपनी इस भूमिका निर्वाह बड़ी मुस्तैदी से करते हैं। इन निबंधों को पढ़कर आप जान पाएंगे कि मानवता के समक्ष कौन से नए संकट पैदा हो गए हैं और इनके निराकरण की दिशा में कैसे सोचा जा सकता है।

इस अध्ययन को निम्नलिखित तीन खण्डों में बॉटा गया है-
पहले खंड में हम 'हिंदी निबंध: स्वरूप, वैचारिकी और वैश्वीकरण' शीर्षक के अंतर्गत बदली सामाजिक स्थिति में हिंदी निबंध की भूमिका की चर्चा करेंगे। दूसरे खंड में श्यामाचरण दुबे के निबंध 'उपभोक्तावाद की संस्कृति' का विशलेषण होगा। तीसरा खंड अनुपम मिश्र के निबंध 'भाषा, बोली और पर्यावरण' पर केंद्रित होगा। इसके बाद अभ्यास के लिए प्रश्न, प्रयोगादि के लिए कार्यसूची और अंत में संदर्भ-स्रोत का उल्लेख किया जाएगा। अध्ययन योजना इस प्रकार है।

पहला खंड

हिंदी निबंध : स्वरूप, वैचारिकी और वैश्वीकरण

निबंध एक गद्य विधा है। ‘बन्ध’ धातु में ‘नि’ उपसर्ग के प्रयोग से ‘निबंध’ शब्द की रचना हुई है। अत: ‘निबंध’ शब्द का अर्थ हुआ विशेष रूप से बाँधना अथवा सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था करना। प्राचीन काल में मुद्रण-यंत्र के अभाव में काव्य अथवा निबंध भोज पत्रों पर लिखे जाते थे। इन पत्रों को बाद में ग्रंथित (सिलाइ़) कर लिया जाता था। इस प्रक्रिया को निबंधन, प्रबंधन, ग्रंथन कहते थे। बाद में इस तरह की रचनाओं को ही निबंध, प्रबंध और ग्रंथ कहा जाने लगा। आधुनिक युग में निबंध गद्य की एक विधा विशेष मानी जाती है। वह ‘एस्से’ के निकट है। ‘एस्से’ में विषय के निरुपण पर विशेष बल रहता है। वर्तमान ‘एस्से’ का प्रारुप फ्रांसीसी विचारक मॉन्तेन ने तय किया था।

Michel de Montaigne
Sixteenth-century French writer Michel de Montaigne pioneered the essay as a literary form in which to express ideas and criticism. Montaigne published his first two books of essays, called *Essais,* in 1580 and his third in 1588. While Montaigne’s early works consider personal themes such as death and pain, his later essays focus on topics of universal concern, such as knowledge and the nature of



छवि :माइकल दे मोंतैग

उन्होंने इसमें व्यक्तिगत प्रयास, रूढ़ विचारों का खंडन और निजी अनुभव की व्याप्ति को निबंध की केंद्रीय विशेषता बताया। परंतु, निबंध में भावों व विचारों की सुसंबद्धता होनी चाहिए इसलिए निबंध ‘एस्से’ से अलग हो जाते हैं। निजी अनुभव की व्याप्ति के कारण ‘एस्से’ में वैचारिक विखराव की गुजाइश हमेशा बनी रहती है। अंग्रेजी के निबंधकार डॉ. जानसन निबंध को मन की शिथिल उर्मि का परिणाम मानते हैं, जिसमें नियम पालन और व्यवस्था के स्थान पर असम्बद्धता और अव्यवस्था की व्याप्ति अधिक रहती है। यह धारणा अधिक दिनों तक नहीं टिक सकी और बाद में बौद्धिकता और एकसूत्रता निबंध की कसौटी बनी। हिंदी निबंधकारों में बाबू श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और गुलाबराय ने निबंध को परिभाषित करने के सार्थक प्रयास किए।

कुछ परिभाषाएं

(अ) निबंध उस लेख को कहना चाहिए जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तारपूर्वक औरपांडित्यपूर्ण विचार किया गया हो।

(ब) निबंध निर्बंध इसलिए है कि उसमें किसी भी दार्शनिक विषय का तात्विक, व्यवस्थित और गंभीर विश्लेषण अपेक्षित नहीं होता। वह निबंध (विचार बंधन से युक्त) इसलिए है कि उसमें एक प्रकार की एकसूत्रता विद्यमान रहती है। यहएकसूत्रता विचार, दृष्टिकोण,भावना अथवा कल्पना में से किसी से भी सम्बद्ध हो सकती है। इस एकसूत्रता का वर्तमान होना नितांत आवश्यक है।

(स) निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें किसी एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के साथ किया गया है:

इन परिभाषाओं से सहज ही ज्ञात होता है कि निबंध में विचारों को रोचक ढंग से पेश किया जाता है। निजता इसके केंद्र में होती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने निबंध को गद्य की कसौटी माना है।

उनका कहना है कि भाषा की पूरी शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है। निबंध के निम्नलिखित तत्व माने जाते हैं-

(1) प्रतिपाद्य विषय
(2) एकान्विति अथवा एकसूत्रता
(3) निजता
(4) कलात्मकता आदि

11.1.1.2 निबंध का वैचारिक एवं शैलीगत विकास

(क) भारतेंदु युग अथवा बीजारोपण काल **1850-1900**
(ख) द्विवेदी युग **1900-1920**
(ग) शुक्ल युग **1920-1940**
(घ) आजादी के बाद निबंध **1940-1990**
(ड) भूमंडलीकरण के दौर में निबंध **1990** से अब तक

बीजारोपण काल के प्रमुख निबंधकारों में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जहाँ मिश्र जी ने बात, वृद्ध, भौं तथा दाँत जैसे विषयों पर निबंधों की रचना की| वहीं बालकृष्ण भट्ट ने आँख, कान आदि मुहावरेदार और विनोदपूर्ण निबंधों की रचना की। मिश्र जी जहाँ गम्भीर शैली में निपुण थे, वहीं भट्ट जी का कौशल व्यंग्य-विनोद में देखते ही बनता था। हिंदी प्रदीप के अतिरिक्त मित्र विलास, भारत जीवन, कविवचन सुधा और सारसुधानिधि के माध्यम से हिंदी में निबंध लेखन की शुरूआत हो चुकी थी। लेकिन, **1885** में 'हिंदी प्रदीप' के द्वारा बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी निबंधों को स्थायित्व प्रदान किया। **1883** में ब्राहमण निकला और **1885** में हिंदोस्थान, भारतोदय, धर्मप्रचारक, दिनकर प्रकाश, धर्मदिवाकर, प्रयाग समाचार आदि पत्र-पत्रिकाएँ निकली। **1897** में नागरीप्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ जिससे निबंध लेखन के

अवसरों में अपेक्षानुकूल वृद्धि हुई। कहना न होगा कि यही वह कालखंड है जिसमें हिंदी विधा का स्वरुप गठित होता है। हरप्रसाद शास्त्री (मानव विनोद **1885**), महावीरप्रसाद द्विवेदी (बेकन विचार रत्नावली **1885**), हरिश्चंद्र (खुशी **1897**), गंगाप्रसाद अग्निहोत्री (निबंध मालादर्श) ने इस युग में अपने गद्य लेखन से निबंध को नयी विधा के रुप में न केवल प्रतिष्ठित किया वरन् उसका आगे का मार्ग भी प्रशस्त किया।हिंदी साहित्यिक निबंधों का विकास भारतेंदु हरिश्चंद्र के सक्रिय योगदान के द्वारा हुआ और यहीं से हिंदी के नयी चाल में ढलने के संकेत भी मिलते हैं। राधाचरण गोस्वामी, मोहनलाल विष्णुलाल पाण्डया, लाला श्रीनिवास दास, ठाकुर जगमोहनदास,पं. मुरलीधर, गणेशदत्त शर्मा, पं. बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन और राधाकृष्ण दास आदि ने इस काल में विभिन्न मुद्दों और शैलियों में अपने निबंध प्रस्तुत किए। 'भारतेंदु युग के इन नक्षत्रों से इस युग के गद्य विकास की झलक हमें मिलती है। गद्य के और विशेषत: निबंध के विकास में इस युग के पत्रों का विशेष हाथ था। अधिकांश लेखन पत्र-पत्रिकाओं के लिए हुआ'।इस युग में निबंधों के प्रिय विषय संस्कृति, समाज, राजनीति और प्रकृति आदि बने। रोचकता और शैलीगत विशेषता के परिष्कार का उद्योग भी यहाँ होता रहा। भाषा का नया तेवर जिसमें हिंदी-उर्दू का समन्वय, तद्भव और देशज शब्दों की बहुलता, मुहावरों का प्रयोग इन निबंधों के द्वारा बना और विकसित हुआ। कुल मिलाकर निबंध लेखन न केवल विधा के रुप में प्रतिष्ठित हुआ बल्कि उसने भाषा और समाज को भी समृद्ध किया।

द्विवेदी युग में भाषा संबंधी समस्या अपने निराकरण की ओर थी। गद्य और पद्य दोनों के लिए ही जैसे खड़ी बोली को संस्तुति मिल चुकी थी। इधर स्वाधीनता आंदोलन भी तेजी पकड़ने लगा था। इन दोनों ही बातों का प्रभाव हिंदी निबंध पर पड़ा। 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन अपने आप में गद्य विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना बन चुकी थी। राधाकृष्ण दास, राधाचरण गोस्वामी आदि लेखक जो भारतेंदु युग से लिख रहे थे वे अब भी रचना कर रहे थे। चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने भाषा, साहित्य, कला, शिक्षा, धर्म और संस्कृति तथा अन्य विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण निबंधों की रचना की। पुरानी हिंदी की भूमिका,कछुआ धरम, मारेसि मोहि कुठाउँ, संस्कृति की टिपरारी आदि उनकी उल्लेखनीय निबंध-रचनाएँ हैं। उनकी निबंध शैली का व्यापक असर बाद के रचनाकारों पर भी रहा। आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने ठीक लिखा है कि 'सच्ची बात यह है कि आज तक उन्हीं की बातें दुहराई जाती रही हैं। शैली ऐसी कि अपभ्रंश के विषय में उनके विद्वतापूर्ण गंभीर लेखन को पढ़ने में कहानी या उपन्यास का आनंद आता है। संस्कारी पाठकों को यहाँ भी पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी याद आएँगें।' महावीर प्रसाद द्विवेदी इस युग के केंद्रीय व्यक्तिव के रुप में मौजूद थे। अद्भुत इंद्रजाल,अंधलिपि, कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता आदि उनके निबंध विषय वस्तु के चलते प्रसिद्ध हुए, लेकिन 'रसज्ञ रंजन' उनका प्रतिनिधि संकलन कहा जा सकता है।बालमुकुंद गुप्त के निबंध व्यक्तिव प्रधान थे। वे 'आत्माराम' और 'शिव शम्भु शर्मा' उपनामों से अपने निबंध लिखते थे। 'शिवशंभु के चिट्ठे' हिंदी निबंध की अनूठी कृति है। उनकी निबंध शैली चुटीली व्यंग्यपूर्ण, प्रवाहधर्मी, तीक्ष्ण, व्यावहारिक, सजीव और सर्वजन ग्राह्य है। माधव प्रसाद मिश्र के निबंध 'निबंधमाला' में संकलित हैं।

शुक्ल जी विचारात्मक निबंधों को श्रेष्ठ मानते थे। लेकिन इस युग में हमें समीक्षात्मक, विवरणात्मक, भावात्मक आदि शैलियाँ भी देखने को मिलती हैं। शुक्ल जी के अतिरिक्त इस युग में बाबू गुलाबराय, धीरेन्द्र वर्मा, पदुमलाल पन्नालाल बक्शी, संपूर्णानंद, जयशंकर प्रसाद ने विचारपरक निबंधों की रचना की। वियोगी हरि, माखनलाल चतुर्वेदी, सियाराम शरण गुप्त, महादेवी वर्मा और रघुवीर ने भावात्मक निबंधों की रचना की। शुक्ल जी के निबंध चिंतामणि (तीन भाग) में संकलित हैं। मनोविकार संबंधी निबंधों में उनका कौशल फूटता दिखाई देता है। श्रद्धा-भक्ति, उत्साह, करुणा, लज्जा, ग्लानि, लोभ , प्रीति, ईर्ष्या, भय आदि उनके निबंध हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। पदुमलाल पन्नालाल बक्शी के निबंध संग्रहों में कुछ और कुछ, पंचपात्र, मकरंद विंदु, प्रबंध परिजात और त्रिवेणी आदि प्रमुख हैं। वे शुद्ध हिंदी की तलाश करते दिखाई देते हैं। सजीवता, प्रवाहमयता, चित्रात्मकता उनकी भाषा की अनूठी विशेषताएँ मानी जाती हैं। माखनलाल चतुर्वेदी

मूलत: भावप्रधान निबंधों के रचनाकार हैं।

ओज, प्रतीकात्मकता, गति और लाक्षणिकता उनकी भाषागत विशेषता है। साहित्य देवता में उनके निबंध संकलित हैं। बाबू गुलाबराय ने अनेक निबंधों की रचना की है। प्रबंध प्रभाकर, मेरी असफलताएँ, कुछ उथले कुछ गहरे और ढलुआ क्लब आदि उनके प्रसिद्ध निबंध संग्रह हैं। इनमें वैयक्तिकता का पुट अधिक दिखाई देता है। कुछ उथले कुछ गहरे में समाज, राजनीति, भाषा, मनोविज्ञान और साहित्य संबंधी निबंध मिलते हैं। भाव व्यंजकता इनकी भाषा की केंद्रीय विशेषता है।

राहुल सांकृत्यायन ने यात्रा-संबंधी निबंधों की रचना की। यात्रा निबंधावली, यात्रा के पन्ने, बचपन की स्मृतियाँ आदि उनके निबंध-संग्रह माने जाते हैं। डॉ सत्येंद्र एक अन्य निबंध लेखक हैं जिन्होंने निबंध रत्नाकर, कला कल्पना और साहित्य और साहित्य की झाँकी जैसे महत्त्वपूर्ण निबंध संचयन प्रस्तुत किए। पांडेय बेचन शर्मा उग्र, धीरेंद्र वर्मा, राय कृष्ण दास, प्रसाद, निराला, पंत आदि अन्य रचनाकारों ने भी निबंध लेखन कर अपना योगदान दिया है। रघुवीर सिंह के निबंध मुगलकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। इन्हें हम भावात्मक कोटि में रख सकते हैं।सप्तद्वीप, ताजमहल, फतेहपुर सीकरी, एक स्वप्न की शेष स्मृति आदि निबंध अपनी अप्रतिम भाषा और प्रभावोत्पादकता के लिए प्रसिद्ध हैं। राय कृष्ण दास के निबंध गवेषणात्मक, चिंतन परक, कला समीक्षात्मक प्रवृति के हैं। राम के वन गमन का भूगोल उनका अत्यंत सघन निबंध है।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने मतवाला के माध्यम से अनेक महत्त्वपूर्ण निबंधों को प्रस्तुत किया। ये निबंध व्यंग्य-विनोद शैली में लिखे गए हैं।जयशंकर प्रसाद के निबंध काव्यकला तथा अन्य निबंध नामक पुस्तक में संकलित हैं। ये निबंध काव्य सिद्धांत और समीक्षा पर केंद्रित हैं। प्रसाद जी की भाषा तत्सम प्रधान और गूढ़ है। काव्य, इतिहास, परंपरा, संस्कृति, दर्शन और शास्त्र उनके निबंधों के मुख्य विषय हैं। सुमित्रानंदन पंत की पल्लव की भूमिका हिंदी निबंध की अनुपम रचना है। काव्य के विभिन्न अवयवों पर इसमें विस्तार से चर्चा की गयी है। महादेवी वर्मा के निबंधों का स्वर संस्मरणात्मक है। एक समय में संस्मरण निबंध की श्रेणी में ही रखे जाते थे। साहित्यकार की आस्था और अन्य निबंध उनका महत्त्वपूर्ण निबंध-संग्रह है। शिवपूजन सहाय एक अन्य निबंध लेखक हैं जो अपनी भावपूर्ण शैली से सबको चकित करते हैं। भाषा की सहज स्वाभाविक गति उनकी खास विशेषता है। शुक्ल युग के निबंधों में भाषाई वैविध्य तो देखने को मिलता ही है विषयगत विस्तार भी हुआ। धर्म, दर्शन, संस्कृति, कला और इतिहास जैसे विषयों को लेकर विपुल मात्रा में निबंधों की रचना हुई। इस युग के निबंधों ने आगामी रचनाकारों का मार्ग प्रशस्त किया।

शुक्लोत्तर युग हिंदी निबंध के नए आयाम विकसित करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र, वासुदेव शरण अग्रवाल, अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय आदि अनेक निबंधकारों ने अपने अवदान से हिंदी निबंध को नयी ऊँचाई प्रदान की। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य, इतिहास, भाषा और संस्कृति पर अपने विचारपरक निबंध प्रस्तुत किए। अशोक के फूल, विचार और वितर्क, कल्पलता, कुटज और मध्यकालीन धर्मसाधना उनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं। विद्वता के साथ सहजता उनके निबंध में साफ तौर पर देखी जा सकती है। लालित्य उनके निबंधों को आम पाठक के लिए रुचिकर बना देता है। उन्हे प्राचीनता से गप्प लगाता आधुनिक रचनाकार भी कहा जाता है। मानवीय जिजीविषा की अद्भुत बुनावट उनके निबंधों में मिलती है। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी के निबंध समीक्षाधर्मी हैं।

काव्यशास्त्र उनके निबंधों का आधार रचता दिखाई देता है। उनके निबंधों में वैचारिक ऊष्मा मिलती है। 'जय शंकर प्रसाद', 'आधुनिक साहित्य' और 'नया साहित्य: नए प्रश्न' में संकलित उनके निबंध हिंदी साहित्य समीक्षा में नए आयाम जोड़ते हैं। निजता और विनोद भी उनकी निबंधशैली की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। डॉ नगेंद्र ने अपने निबंधों से नए समीक्षात्मक मानदंड स्थापित किए। विचार और अनुभूति, विचार और विवेचन, अनुसंधान और आलोचना, कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ आदि इनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं।

वासुदेवशरण अग्रवाल ने भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों का मार्मिक उद् घाटन अपने निबंधों के द्वारा किया है। कला और संस्कृति उनके निबंधों के प्रिय विषय रहे हैं। 'पृथिवी पुत्र' तथा 'कला और संस्कृति' उनके प्रसिद्ध निबंध ग्रंथ हैं। वैदिक और प्राचीन शब्दों पर आपकी गहरी पकड़ दिखाई देती है। इनके निबंधों की भाषा तत्सम धर्मी होने पर भी दुरूह नहीं है। सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय एक ऐसे निबंधकार हैं जो निजता, बौद्धिकता और विचारशीलता को एक साथ अपने निबंधों में प्रवाहित करने में सिद्धहस्त हैं। सबरंग, त्रिशंकु, आत्मनेपद, भवंती, अंतरा, लिखि कागद कोरे, जोगलिखी, आलवाल, संवत्सर और हिंदी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य आदि उनके उल्लेखनीय निबंध संकलन हैं। निबंधों में तत्सम शब्दावली का प्रयोग हुआ है परंतु उर्दू- अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग से उनकी व्यंजकता बढ़ जाती है। विद्यानिवास मिश्र आचार्य द्विवेदी की निबंध परंपरा का विकास करते हैं। छितवन की छाँह, तुम चंदन हम पानी, बनजारा मन, मेरे राम का मुकुट भीग रहा है और परंपरा कोई बंधन नहीं आदि उनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं। उनके निबंधों में लालित्य, सूत्र, व्यंग्य शैली के अतिरिक्त विश्लेषण, विचार और भावात्मक शैली को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। शुक्लोत्तर निबंधकारों में कुबेरनाथ राय एक नयी बानगी के साथ अपने निबंध लेकर आते हैं। प्रिया नीलकंठी, रस आखेटक, गंधमादन, विषाद योग इनके निबंध संकलन हैं। सांस्कृतिक संदर्भों के माध्यम से आधुनिक जीवन की झांकी इनके निबंधों में दिखाई देती है। अनेक अन्य निबंधकारों ने अपने-अपने अवदान से हिंदी निबंध को वैचारिक और प्रस्तुति की दृष्टि से समृद्ध करते हुए पिछली सदी के अंतिम दशक तक एक नए मुकाम पर पहुँचाया और जब पूरी दुनिया में परिवर्तन की गति बिल्कुल नयी शक्ल अख्तियार कर रही थी तो उससे रूबरू होने के लिए बदले मिजाज के निबंधकार अपनी नयी जीवन दृष्टि और प्रभावशाली भाषा-सृष्टि के साथ हमारे सामने आते हैं, जिनमें श्यामाचरण दुबे और अनुपम मिश्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

वैश्वीकरण और हिंदी निबंध

पिछली सदी का अंतिम दशक बहुआयामी बदलावों और नए विमर्शों का दशक माना जाता है। सूचना एवं संचार–माध्यमों के प्रसार, पर्यावरण के प्रति जागरूकता, तकनीकी विकास, बाजारवादी अर्थव्यवस्था और एकध्रुवीय राजनीति ने दुनिया के देशों में बिल्कुल ताजे संबंध बनाए और विकसित किए।



Advertising and Socialization

Advertising exerts a persuasive effect on thought and behaviour by encouraging people to adopt lifestyle patterns through their choice of consumer goods. This 1956 magazine advertisement for cigarettes exemplifies the attempts often made by manufacturers to glamorize their products.

A.T. Co. Product of The Amer. Tobacco Co.

उपभोक्तावादी संस्कृति का फैलाव हुआ और प्राकृतिक संपदाओं के दोहन में तेजी आयी। साथ ही आर्थिक प्रगति की छद्म अवधारणाएँ प्रकट की गईं। विश्व कल्याण के नए नुस्खे तलाशे गए और आम जनता को नयी घोषणाओं के द्वारा दिग्भ्रमित करने का प्रयास हुआ। हिंदी निबंधकारों ने इन समस्याओं को अपनी वैचारिकी का हिस्सा बनाया और एक जीवंत प्रस्तुति से पाठकों का ध्यान प्रभावशाली ढंग से इस ओर खींचा। सन् 90 के बाद के हिंदी निबंधों में वैश्वीकरण, बाजारबाद, राजनीति, सूचनातंत्र, उपभोक्तावाद, सभ्यता और संस्कृति के मसले, पर्यावरण, विश्व शांति और अहिंसा आदि विषय प्रमुखता से उठाए गए हैं। निबंधकारों ने इन विषयों पर लेखन करते हुए अपने पांडित्य का परित्याग किया और समस्या की गंभीरता को सहज सामान्य और कम शब्दों में व्यक्त किया।इस प्रकार हिंदी निबंधों का एक अनचीन्हा तेवर विकसित हुआ और निबंध नए मिजाज में ढले। प्रो. श्यामाचरण दुबे और श्री अनुपम मिश्र के निबंध सामाजिक सरोकारों और मानवीय संघर्षधर्मिता को एक साथ उभारते हैं। इस दिग्भ्रमित दुनिया में ये दोनों निबंधकार अपने पाठकों को साफ-सुथरी राह भी सुझाते हैं। इनके निबंधों को पढ़कर जहाँ स्पष्ट वैचारिक समझ बनती है वहीं कुंद पड़ती संघर्षशीलता की धार भी तेज होती है।

श्यामाचरण दुबे: परिचय, सामाजिक योगदान और सृजन कर्म

प्रो. श्यामाचरण दुबे मानव समाजशास्त्री थे। संस्कृति के मानव वैज्ञानिक पक्ष को उन्होंने पूरी गंभीरता और व्यापकता से उद्घाटित किया है।



1922 में छत्तीसगढ़ में उनका जन्म हुआ था। आदिवासी जीवन और लोक कलाओं में इनकी गहरी दिलचस्पी थी। मानव विज्ञानी होने के साथ-साथ भाषा और साहित्य पर भी इनकी जबर्दस्त पकड़ थी। मानव विज्ञान में ही इन्होंने पीएच.डी. की उपाधि अर्जित की। प्रो. दुबे ने इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी (शिमला), जम्मू विश्वविद्यालय और मध्यप्रदेश उच्च शिक्षा अनुदान आयोग के विभिन्न पदों पर रहते हुए अपना योगदान किया।

श्यामाचरण दुबे का रुझान पत्रकारिता की ओर बचपन से ही था। अपनी पारिवारिक पत्रिका 'सेवक' से जुड़े रहने के चलते उन्हें भविष्य में इसका लाभ मिला। हंस, विशाल भारत और माडर्न रिव्यू जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के लिए उन्होंने गंभीर लेखन किया। प्रो.श्यामचरण दुबे, एक प्रख्यात अंतरराष्ट्रीय समाज वैज्ञानिक थे और उनका निधन सन् **1996** के आरम्भ में हुआ । सन् **1955** में पहली बार प्रकाशित उनकी पुस्तक 'इंडियन विलेज' भारतीय समाज के अध्ययन के क्षेत्र में एक मील का पत्थर थी। प्रो. दुबे ने देश-विदेश के विश्वविद्यालयों में मानवविज्ञान और समाजविज्ञान का अध्ययन किया। लेकिन उनका हिंदी और अंग्रेजी में संपूर्ण लेखन मात्र सामाजिक विकास

तक सीमित नहीं है | 'इंडियन सोसायटी', (भारतीय समाज संस्कृति और परम्परा से सम्बन्धित इस पुस्तक के निबन्धों में एक ऐसी विश्लेषणात्मक चेतना क्रियाशील है जो अपने समय और समाज की समस्याओं के बारें में हमें निरन्तर सतर्क रखने की कोशिश करती है।

यह संकलन प्रो. दुबे के निधन के काफ़ी समय बाद प्रकाशित हो रहा है। इसका एक इतिहास है।**1993** में प्रो. दुबे को उनके 'परम्परा, इतिहास-बोध और संस्कृति' पुस्तक के लिए भारतीय ज्ञानपीठ ने मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित किया। उसी समय उन्होंने श्री पद्मधर त्रिपाठी के सुझाव पर 'परम्परा और परिवर्तन' की योजना बनायी। लिखी हुई सामग्री का चयन प्रारम्भ

हुआ, नये आलेखों के लिए चिन्तन चलता रहा। साथ ही बहुत सारे लिखने तथा बोलने के अवसरों का उपयोग वे परम्परा के भिन्न-भिन्न आयामों एवं सम्बन्धित विषयों पर अपने विचारों को मूर्त रूप देने में करने लगे। कुछ समय बाद दुर्भाग्यवश वे चले गये और संकलन का कार्य अधूरा रह गया।) 'इंडियाज़ चेंजिंग विलेजिज़', 'माडर्नाइजेशन एंड डेवलपमेंट: सर्च फॉर आल्टरनेटिव पेरेडाइम्स', 'परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति',



'शिक्षा, समाज और भविष्य', 'संक्रमण की पीड़ा' तथा 'समय और संस्कृति' इनकी महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं। 'परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति' पर ज्ञानपीठ ने मूर्तिदेवी पुरस्कार भी प्रदान किया। वे एक विचारक, आंदोलनकर्मी और लेखक के रूप में आज हमारे बीच समादृत हैं।

'उपभोक्तावाद की संस्कृति'

जब हम उपभोक्तावादी संस्कृति की बात करते हैं तो उपभोग तथा उपभोक्तावाद में फरक करते हैं। उपभोग जीवन की बुनियादी जरूरत है। इसके बगैर न जीवन सम्भव है और न वह सब जिससे हम जीवन में आनन्द का अनुभव करते हैं। इस तरह के उपभोग में हमारा भोजन शामिल है जिसके बिना हम जी नहीं सकते या कपड़े शामिल हैं जो शरीर ढकने के लिए और हमें गरमी, सरदी और बरसात आदि से बचाने के लिए जरूरी हैं। इस तरह जीवन की रक्षा करनेवाली या शरीर की तकलीफों को दूर करने वाली दवाएँ, ऋतुओं के प्रकोप से बचाने के लिए घर, ये सब उपभोग की वस्तुएं हैं। औरतों और मर्दों द्वारा एक दूसरे को आकर्षित करने के श्रृंगार के कुछ साधन भी उपभोग की वस्तुओं में आते हैं। यह बिलकुल प्राकृतिक और स्वाभाविक जरूरत है। मनुष्य में ही नहीं, पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों में भी नर और मादा के बीच आकर्षण पैदा करने के लिए सुन्दर रंगीन बाल, रोयें और पंख, भड़कीले रूप, मीठे संगीतमय स्वर तथा तरह-तरह की गंध प्रकृति की देन हैं। इन सब गुणों की उपयोगिता जीवों में विभिन्न मात्रा में रूप, रंग, गंध, स्वर आदि के प्रति स्वभाव से प्राप्त आकर्षण से आती है। यही स्वाभाविक आकर्षण एक ऊँचाई पर मनुष्यों में सौन्दर्यबोध को जन्म देता है। इसी बोध से मनुष्य विभिन्न कलाओं और विज्ञान को जन्म देता है। अपने परिवेश को नृत्य, संगीत, चित्र, मूर्त्ति आदि से सजाना या साहित्य और विज्ञान के जरिए अपने वातावरण का प्रतीकात्मक अनुभव करना, मनुष्य को सबसे ऊँचे दर्जे का आनन्द देता है। इस प्रक्रिया में निर्मित कलावस्तु, पुस्तक आदि सब मनुष्य के स्वाभाविक उपभोग के क्षेत्र में आते हैं। संक्षेप में उपभोग की वस्तुएँ वे हैं, जिसके अभाव में हम स्वाभाविक रूप से अप्रीतिकर तनाव का अनुभव करते हैं, चाहे वह भोजन के अभाव में भूख की पीड़ा से उत्पन्न हो अथवा संगीत एवं कलाओं के अभाव में नीरसता की पीड़ा से। इसके विपरीत ऐसी वस्तुएँ, जो वास्तव में मनुष्य की किसी मूल जरूरत या कला और ज्ञान की वृत्तियों की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं लेकिन व्यावसायिक दृष्टि से प्रचार के द्वारा उसके लिए जरूरी बना दी गयी हैं, उपभोक्तावादी संस्कृति की देन हैं- सच्चिदानंद सिन्हा को बदलती जीवन शैली का परिणाम माना है। उपभोक्तावाद को नकरात्मक और सकारात्मक दोनों ही तरीकों से समझने की कोशिश दुनिया के विचारक और चिंतक करते रहे हैं। एक ओर वे विचारक हैं जो मुक्त अर्थव्यवस्था के पैरोकार हैं और भूमंडलीकरण उनके लिए ग्राह्य है। दूसरी ओर मुक्त और बाजारवादी

अर्थव्यवस्था के अंतर्विरोध को पहचानने वाले चिंतक हैं। जहाँ पहली श्रेणी के विचारक उपभोक्तावादी संस्कृति को समाजिक विकास के लिए अनुकूल स्थिति मानते हैं वहीं दूसरे इसे गैर समतामूलक विकास की मुख्य जड़। श्यामाचरण दुबे दूसरी कोटि के विचारक हैं। यह निबंध उपभोक्तावाद के खतरों और उसके सामाजिक दुष्परिणामों को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है।

उपभोक्तावाद की संस्कृति: संवेदना और प्रतिपाद्य

'उपभोक्तावाद की संस्कृति' निबंध की शुरुआत उत्पादन, उपभोग, 'सुख' और चरित्र के अंतर्संबंधों की व्याख्या से होती है। दुबे जी इस संबंध पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि उपभोग को ही 'सुख' मान लिया गया है। इस धारणा के चलते हमारा चरित्र भी बदल रहा है। हम उत्पादन को ही जीवन का लक्ष्य मानने लगे हैं।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मानव संस्कृति उत्पादन और जरूरत के बीच संतुलन बनाकर विकसित होती रही है। जरूरत से अलग उत्पादन हमारे समाज को नए ढ़ग से गढ़ता है। हम जरूरत के बजाय विलासिता की गिरफ्त में आ जाते हैं और उत्पादन बढ़ाने की वकालत करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में दैनिक जीवन नए उत्पादों की तलाश में लग जाता है और हम उत्पादों के माध्यम से ही अपनी रोजमर्रा की समस्याओं का निदान खोजने लगते हैं। यानी, उत्पाद हमारे जीवन में एक निर्विकल्प स्थिति पैदा करता है। दुबे अपने निबंध में ऐसी तमाम वस्तुओं का उल्लेख करते हैं जो हमें दैनिक जीवन में अपरिहार्य लगती हैं और वे यह एहसास रचती हैं कि इनके बिना शायद जीवन संभव ही नहीं। इसमें वे टूथपेस्ट, साबुन, परफ्यूम, तेल, परिधान, म्यूजिक सिस्टम, पाँच सितारा होटल और अस्पताल, पब्लिक स्कूल आदि की चर्चा तो करते ही हैं और यहाँ तक कि मरने के बाद अपनी कब्र की सजावट तक के इंतजाम को भी उद्धृत करते हैं। उनका तर्क है कि उपभोग की वस्तुओं पर एक विशिष्ट समुदाय का कब्जा है लेकिन सामान्य लोग भी उसे लालसा भरी निगाहों से देखते हैं। भारत के एक अन्य समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास की 'संस्कृतीकरण' की अवधारणा इस सिलसिले में दृष्टव्य है। उनका मानना है कि शिष्ट समाज की जीवन शैली की नकल आम लोग बहुधा करने लगते हैं। श्यामाचरण जी उपभोक्तावादी संस्कृति के संदर्भ में सामान्य लोगों की इसी प्रवृत्ति का संकेत करते हैं। समाज का जागरूक वर्ग जब उपभोग की ओर उन्मुख हो जाता है तो आम आदमी भी इसे ही सही मानने लगता है और उपभोक्तावाद अपनी जड़े जमाने में सक्षम हो जाता है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

निबंध के विचारों को आगे बढ़ाते हुए प्रो. दुबे भारत में उपभोक्तावादी संस्कृति के कारणों को विश्लेषित करते हैं। वे इसकी जड़ हमारी सामंती संस्कृति में तलाशते हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति को वे सामंती संस्कृति के बदले हुए मुहावरे के रूप में चिन्हित करते हैं। सामंती संस्कृति भी मूलत: उपभोग पर ही आधारित थी। लेकिन जहाँ उसकी गिरफ्त में कुछ अभिजन ही आते थे वहीं उपभोक्तावादी संस्कृति आम आदमी के चरित्र और मनोविज्ञान को बदल कर रख दे रही है। इस कारण हम पश्चिम की जीवन शैली के गुलाम बन रहे हैं बल्कि हमारा यह बोध भी मर गया है कि पश्चिम से अलग अन्य कोई जीवन-शैली भी हो सकती है। उपभोक्तावाद ने हमें दिमागी रूप से दास बना लिया है जिसके चलते हम प्रगाति और विकास को उपभोग की जानी वाली वस्तुओं से सीधे जोड़ने लगे हैं। कहने का अर्थ यह कि यदि हम पंच सितारा अस्पताल में अपना इलाज कराते हैं तो हम विकसित समझे जाएँगे और अगर देसी औषधियों से ठीक हो जाएँ तो पिछड़े। उपभोक्तावाद हमारी जरूरत ही नहीं हमारे नजरिए को भी बदल देता है। हम अपने ज्ञान, प्रतिभा, कौशल, परंपरा, अनुभव और आस्था पर भरोसा न कर पश्चिमी जीवन-दर्शन को प्रामाणिक मानने लगते हैं और उसका अंधा अनुकरण करते हैं।श्यामाचरण जी इस अनुकरण के लिए सूचना और प्रसार माध्यमों के प्रयोग और उनकी मोहनकारी शक्ति को जवाबदेह ठहराते हैं। यह बात ठीक भी है कि इन माध्यमों के अभाव में और विज्ञापन के बिना उपभोक्तावादी संस्कृति पनप नहीं सकती। विज्ञापन तो जैसे इस संस्कृति की प्राण वायु है। उपभोक्तावर्ग के निर्माण में विज्ञापन सबसे सक्रिय भूमिका निभाता है। उपभोग का लालच परोसता है और जो लोग उपभोग से दूर रहते हैं उनमें कुंठा का प्रसार करता है। इस प्रकार विज्ञापन सामाजिक विभाजन को जन्म देता है तथा उपभोक्तावर्ग और गैर-उपभोक्तावर्ग के बीच वैमनस्य बढ़ाता है। लेखक अपने विचार-सूत्र को आगे बढ़ाते हुए एक प्रश्न करता है कि आखिर इस संस्कृति की दौड़ कहाँ समाप्त होगी। क्या समाज का एक वर्ग जो वंचित रहेगा वह कोई प्रतिरोध नहीं करेगा और यदि उसका प्रतिरोध होता है तो उसका परिणाम क्या

निकलेगा। लेखक उपभोक्तावादी संस्कृति को भी वर्ग-विभेद और गैर-समतामूलक समाज के निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण कारक मानता है।इसका एक निश्चित परिणाम सामाजिक अशांति है इसलिए लेखक का दृढ़ मत है कि उपभोक्ता संस्कृति मानव समाज के लिए ग्राह्य नहीं हो सकती।

वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि के विकास के साथ यह मान लिया गया था कि संसाधन असीमित है और इनका दोहन कर मानवता का कल्याण किया जा सकता है। अब यह विचार तो संदिग्ध हो चुका है लेकिन इससे जो सीख हमें लेनी थी वह हम नहीं ले रहें हैं।

यह सिद्ध हो चुका है कि हमारे तमाम संसाधन सीमित है ओर यदि इनका उपयोग वर्तमान पीढ़ी ही कर लेगी तो आने वाली पीढि़याँ इससे वंचित रह जाएँगी। उपभोक्तावादी संस्कृति वर्तमान उपभोग को अधिकाधिक बढ़ाना चाहती है जिससे बड़ा मुनाफा अभी कमाया जा सके। इसलिए यह क्षणजीवी संस्कृति है। भविष्य के खतरों से बेसुध।

उपभोक्ता संस्कृति का विवेचन करते हुए प्रो. दुबे इसके एक और महत्वपूर्ण पहलू को उजागर करते हैं। वह है इस संस्कृति में निहित व्यक्ति केन्द्रिता। कोई भी संस्कृति परमार्थ के मूल्य से अलग नहीं हो सकती लेकिन उपभोक्तावादी संस्कृति तो आत्म तुष्टि की ही पोषक है। स्वार्थ और स्वापभोग को बढ़ावा देना ही उसका मुख्य सरोकार है। लेखक ने निबंध का समापन करते हुए गाँधी जी के हवाले से कहा है कि हमें विभिन्न संस्कृतियों के लिए अपने द्वार खुले रख्ने चाहिए पर उपभोक्ता संस्कृति हमारे समाज और संस्कृति के लिए सबसे बड़ा खतरा और चुनौती है। उपरोक्त विश्लेषण यह दर्शाता है कि प्रो. दुबे उपभोक्तावादी संस्कृति को भारतीय समाज के लिए एक चुनौती मानते हैं। विषम समाज, आपसी विद्वेष, संसाधनों का दोहन, अशांति और कुंठा इस संस्कृति का निश्चित परिणाम है। निबंध का मूल उद्देश्य इन्हीं खतरों से आगाह करना और मानवीय जरूरत तथा उपभोग के बीच संबंध का निरूपण है।

उपभोक्तावाद की संस्कृति: भाषा-शैली और प्रस्तुत

निबंध को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने गद्य की कसौटी कहा है, जहाँ विचारों की श्रृंखला की बुनावट की जाती है। निबंध की प्रस्तुति के मानक बदलते रहे हैं। परंतु विचारों की तार्किक अन्विति और उचित शब्दों का चयन आज भी निबंध के अनिवार्य तत्व माने जाते हैं। श्यामाचरण दुबे विचारपरक निबंधकार हैं। सामाजिक चिंता की अनुगूंज उनके निबंधों में सहज ही सुनी जा सकती है।

निबंध की समास, व्यास, तरंग और प्रवाह आदि पुरानी शैलियाँ मानी जाती हैं। निबंध-शैली का विश्लेषण प्राय: इन्हीं शैलियों के आधार पर होता रहा है। लेकिन आज हम निबंध की संरचना, शब्द विन्यास, वैचारिक बुनावट और तर्क विन्यास के आधार पर निबंध की प्रस्तुति का अध्ययन करते हैं। उपभोक्तावाद की संस्कृति एक लघु कलेवर का निबंध है। लेखक छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करता है और अगले विचार-बिंदु पर आ जाता है। निबंध का शुरुआती वाक्य है, 'धीरे-धीरे सब कुछ बदल रहा है'। निबंधकार यह संकेत देता है कि निबंध बदलाव और उसके मूल्यांकन से जुड़ा है। सामान्यत: बदलावों को ग्राह्य और प्रगतिमूलक माना जाता है। लेकिन लेखक बिना समय गंवाए यह जाहिर कर देता है कि वह उपभोक्तावादी जीवन-दर्शन की विवेचना करने जा रहा है। निबंध अपनी समस्या के मूल को यहीं उद्घाटित कर देता है। पहले ही अनुच्छेद में लेखक उत्पादन, उपभोग, सुख और चरित्र के बीच एक संबंध निरूपित करता और आगे चलकर इस संबंध-विधान की जटिलताओं की पड़ताल करता है। फिलहाल, लेखक की चिंता 'उत्पादन बढ़ाने पर जोर है चारों ओर' जैसे वाक्य से पता चलती है। 'चारों ओर' पद का प्रयोग इसे अधिक गंभीर बनाता है। यानी जीवन के अन्य कार्यों –सेवा, संस्कृति और संघर्ष की तुलना में वृहत्तर मानव समूह **उत्पादन और उपभोग** को समर्पित हो रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति इस प्रकार हमारे समाजिक मूल्यों को इकहरा कर केवल उपयोगितावाद मे रिड्यूस कर देती है। यह एक नए वायुमंडल की रचना करता है। जिससे हमारा 'चरित्र' तय होता है। यह चरित्र थोड़ा विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। गाँधी जी मानते थे कि **वैष्णव**(उच्च चरित्र का मनुष्य) वह होता है जो दूसरे की पीड़ा का साझा करे। उपभोक्तावाद हमें निजी पीड़ाओं के निराकरण के लिए ही प्रेरित करता है। यह ऐसा नया उद्यम है जो मानव सभ्यता के अनुभव से भिन्न है। मनुष्य की प्रगति कबीलाई समय से लेकर आधुनिक काल तक आपसी सहयोग पर ही टिकी रही है।परंतु उपभोक्तावाद आपसी शोषण और निजी लाभ पर आधारित व्यवस्था को जन्म दे रहा है। निबंधकार इसलिए इसके प्रतिपक्ष में खड़ा है। उसने यह सिद्ध किया है कि कैसे दैनिक जीवन में उपयोग आने वाली वस्तुओं को महिमा मंडित कर उनसे मुनाफा कमाया जाता है। साबुन की चर्चा करते हुए लेखक बताता है कि, साबुन ही देखिए। एक में हल्की खुशबू है और दूसरी में तेज,शरीर को पवित्र रखना चाहते हैं, यह लीजिए शुद्ध गंगाजल से बना साबुन चमड़ी को नर्म रखने के लिए यह लीजिए-मँहगी है, पर आपके सौंदर्य में निखार ला देगी'। ऐसे ही लघु वाक्यों से उपभोक्तावादी संस्कृति पर व्यंग्य भी करते हैं, जो अंतर्वर्ती होने के साथ मार्मिक भी है। लेखक ने एक लंबे अनुच्छेद में टूथपेस्ट, माउथ वाश, साबुन, परफ्यूम, परिधान, घड़ी, म्यूजिक सिस्टम, पाँच सितारा होटल और अस्पताल, ऐसे ही स्कूल, विश्वविद्यालय आदि की रोचक चर्चा की है। दरअसल रचनाकार यह दिखाना चाहता है कि हमारी जीवन शैली का हर क्षेत्र उपभोक्तावाद की गिरफ्त में है। '**पूर्ण सुरक्षा**' की गारंटी और 'मैजिक फार्मूले' पर निर्मित टूथपेस्ट विज्ञापन के जरिए ही बेचे जा सकते हैं। लेखक भाषा के इस्तेमाल में दक्ष दिखाई देता है। सामान्य सा विश्लेषण करते हुए वह एक गंभीर मुद्दे को हमारे सामने उछाल देता है। जैसे इसी अनुच्छेद में वह परफ्यूम की चर्चा करते हुए एक वाक्य लिखता है कि, 'ये **प्रतिष्ठा चिह्न** हैं, समाज में आपकी हैसियत जताते हैं'।

अब इसका विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि वास्तव में यही तो उपभोक्तावाद की परिभाषा है। यानी उन वस्तुओं का संचय जो हमारी जरूरत भी नहीं हैं। हैसियत जताने के लिए जब सामग्री की खरीद-फरोख्त होने लगे तो उपभोक्तावादी संस्कृति का चरम विकास होने लगता है। लेखक ने अपने विचारों को बड़ी सहज भाषा- जिसमें तत्सम, तद्भव और उर्दू के शब्द तो आते ही

है- में व्यक्त किया है। साथ ही, अंग्रेजी के शब्द भी बड़ी संख्या में प्रयुक्त हुए हैं।

निबंधकार का शिल्प उसके तर्क-विधान का सहवर्ती होता है। इस निबंध की संरचना को देखें और भाषाई प्रयोग को भी तो हमें पता चलता है कि लेखक जहाँ उपभोक्तावादी संस्कृति का उपहास कर रहा है और जहाँ उस पर कटाक्ष कर रहा है वहाँ अंग्रेजी के शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग करता है। लेकिन, निबंध के परवर्ती हिस्से में, मूलत: जहाँ उसकी चिंताओं का इजहार हुआ है में इनका प्रयोग शिथिल पड़ गया है। इसी खंड में भाषा जुझारू तेवर अख्तियार कर लेती है। जैसे कबीर शैली गद्य में पुन: प्रकट हो गयी हो। कुछ उदाहरण देखिए--
-आज सामंत बदल गए हैं, सामंती संस्कृति का मुहावरा बदल गया है।
-हमारी नई संस्कृति अनुकरण की संस्कृति है।

-हमारा समाज ही अन्य निर्देशित होता जा रहा है।
-मर्यादाएँ टूट रही हैं, नैतिक मानदंड ढीले पड़ रहे हैं।
-स्वार्थ परमार्थ पर हावी हो रहा है।
-भोग की आकांक्षाएँ आसमान को छू रही हैं। इन वाक्यों में एक चीत्कार और चेतावनी दोनों छिपी है। सामंती मुहावरे के बदलने को कबीर की ही तरह लेखक उपरोक्त वाक्यों में व्यक्त करता है। 'मैं केहि समझाऊँ, सब जग अंधा' जैसी विवशता और बेचैनी यहाँ भी देखी जा सकती है। लेखक इसी तल्खी में **गाँधी जी** को भी याद करता है और इसके जरिए हमें सेंसेटाइज करने की कोशिश करता है। नए सामंती माहौल को नयी भाषा और शिल्प में प्रो. दुबे ने कुशलता से व्यक्त किया है।

यह निबंध उपभोक्तावाद के नकारात्मक पहलू को ही उजागर करता है। उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जिसकी कोई तर्क संगत चर्चा निबंध में नहीं मिलती। आधुनिक जीवन दृष्टि के निर्माण में उपभोक्तावाद की भूमिका के बारे में भी लेखक मौन है। निबंध में निजता का होना वांछनीय माना गया है। प्रो. श्यामाचरण दुबे की निजता समतावादी जीवन-दर्शन से प्रभावित रही है। जो पूँजीवाद को स्वीकार नहीं करता। उपभोक्तावादी संस्कृति पूँजीवाद की देन है। इसलिए यह स्वाभाविक भी था कि वे अपने इस निबंध में उपभोक्तावादी संस्कृति की त्रुटियों का खुलासा अधिक करते।मोटे तौर पर देखा जाय तो पूरी दुनिया में एक बहस समाजवाद और पूँजीवाद के पक्ष-विपक्ष को लेकर है। उपभोक्तवाद के प्रति हमारा नजरिया भी इसी से निर्धारित होता है।



समतावादी और गाँधीवादी विचारकों का यह मानना है कि मनुष्य श्रेष्ठ होने के बावजूद प्रकृति का ही अभिन्न अंग है। प्राकृतिक संसाधनों का जरूरत के मुताबिक ही उपभोग करना मानवता के हित में है। पूँजीवाद मनुष्य की उपभोग करने की प्यास को बढ़ता है।

संसाधनों का तीव्र दोहन और उसकी खपत इसकी सबसे बड़ी प्राथमिकता है। उपभोक्तावादी संस्कृति इसी का परिणाम है। फलस्वरूप एक गैर-बराबरी का समाज बनता है। इसमें जो हाशिए पर छिटके लोग हैं वे सामाजिक विचलन के शिकार हो जाते हैं। समाज में अशांति का मूल यही गैर-बराबरी है। लेखक इस निबंध में दैनिक वस्तुओं के हवाले से इस ओर महत्त्वपूर्ण संकेत करता है। दैनिक वस्तुएँ असमानता को हमारे रोजमर्रा के एहसास में बदल देती हैं। संपन्न और विपन्न का बोध कुंठित लोगो की समूह बन जाता है, जिसमें आपसी भाईचारा और सौहार्द पनप नहीं पाता। लेखक इस खतरे के प्रति हमें चेताता है।

विवेचन

यह निबंध दो हिस्सों में बँटा दिखाई देता है, परंतु इससे इसकी एकसूत्रता खंडित नहीं होती। पहला हिस्सा उपभोक्तावाद की संस्कृति को समझने, उसका सोदाहरण विश्लेषण करने से संबंधित है। इसमें कटाक्ष, व्यंग्य और वर्णन अधिक है। यह खंड पृष्ठभूमि की तरह है। बाद का हिस्सा वैचारिक है। इस भाग में निबंधकार जैसे ठहरकर, शांत-भाव से अपने निष्कर्ष प्रस्तावित करता है। भाषा और विचार दोनों यहाँ अपनी जवाबदेही में ढले दिखाइ्र देते हैं। यह हिस्सा श्यामाचरण जी के व्यक्तित्व, विचारधारा, रचना कौशल और आंदोलनधर्मिता का सहज साक्ष्य उपस्थित करता है।

निष्कर्ष

उपभोक्तावाद की संस्कृति निबंध हमारी बदलती जीवन-शैली और बदलते जीवन-मूल्यों का विवेचन करता है। लेखक का दृढ़ मत है कि उपभोक्तवाद हमारे समाज के लिए गैर जरूरी है। रोजमर्रा की जरूरतें भी विज्ञापन और उपभोक्तावादी संस्कृति से तय हो रही हैं। इससे समाज में विषमता बढ़ी है। वह दैनिक जीवन में उपयोग में आने वाली वस्तुओं के हवाले सिद्ध करता है कि मामूली वस्तुएँ कैसे हमारे विषमता बोध को बढ़ाती हैं। सामाजिक अशांति के केंद्र में भी लेखक इसी संस्कृति को देखता है। प्रसार माध्यम अपनी पूरी ताकत से यह प्रचारित करने में लगे रहते हैं कि उपभोक्तावाद ही जीवन को 'सुखी' बना सकता है। वही एकमात्र विकल्प है। लेखक इस स्थिति पर चुटीला व्यंग्य करते हुए कहता है कि 'यही है राइट च्वाइस बेबी'। यह लेखकीय कौशल है, प्रो. श्यामाचरण दुबे का, जो उपभोक्तावादी संस्कृति को उसी की भाषा जवाब दे सकते हैं। लेखक ने इस निबंध में विचारों की बुनावट आम बोलचाल की भाषा में की है। उपभोक्तवाद भी इसी भाषा के जरिए विकसित होता है। 'लोहा लोहे को काटता है' की तर्ज पर इस निबंध की संरचना खड़ी है। लेखक उन सभी वस्तुओं का वर्णन करता है जहाँ उपभोग की आँधी बड़ी तेजी से चल रही है। इसी वर्णन से हमें 'उपभोग' और 'उपयोग' में अंतर पता चलता है। लेखक उपयोगी वस्तुओं के इस्तेमाल को जरूरी मानता है। उपभोग की जाने वाली वस्तुएँ हमारी जरूरत न होकर 'प्रतिष्ठा चिह्न' बन जाती है। उपभोक्तावाद इसी पर फलता-फूलता है।

निबंधकार को इस वर्तमान संस्कृति की जड़ हमारी सामंती संस्कृति में दिखाई देती है। यह काफी विवादास्पद स्थापना हो सकती है। इस पर बहस की जा सकती है। सामाजिक ताने-बाने के बदलाव में उपभोक्तावादी संस्कृति ने आमूल चूल परिवर्तन घटित किया है। लेखक इन बदलावों को समाज के हित में नकार देता है। निबंध के समापन की ओर बढ़ते हुए इस मुद्दे पर उसकी चिंता और आक्रोश साफ-साफ झलकते हैं। इस संस्कृति के विकल्प की तलाश भी वह करता है। इसका विकल्प उसे गाँधी के जीवन दर्शन में दिखाई देता है। समाज की स्थाई शांति, अपनापे को बचाए रखने, प्रगति और परंपरा का समन्वय, प्रकृति और विकास की सहयात्रा उसे इसी विकल्प में दिखाई देती है। कहने की जरूरत नहीं कि यह निबंध केवल समस्याओं के अंधकार की प्रस्तावना ही नहीं वरन् समाधान का आलोक भी प्रस्तुत करता है।

अनुपम मिश्र: परिचय, सामाजिक योगदान और सृजन कर्म

अनुपम मिश्र जाने-माने पर्यावरणविद् हैं। परंपरा और प्रगति के अंतर्संबंधों को नए आयाम में समझने का वे निरंतर प्रयास करते रहे हैं। हिंदी के प्रसिद्ध कवि श्री भवानी प्रसाद मिश्र के घर उनका जन्म **5** जून **1948** ई. में वर्धा(महाराष्ट्र) में हुआ।



पिता की विरासत और उसकी ताकत तो उनके साथ थी ही, उन्होंने स्वयं कठिन परिश्रम और साधना से इस दुनिया और समाज की समस्याओं को जानने का उद्यम किया।

सामाजिक सरोकारों को चिह्नित कर उन पर सटीक राय बनाना उनके व्यक्तिव का अनूठा गुण है। सादगी और विनम्रता उनमें सहज ही देखी जा सकती है। देश की प्रतिष्ठित सामाजकि संस्था 'गाँधी शांति प्रतिष्ठान' में वे वर्तमान में सचिव पद पर कार्यरत हैं।

एम.ए. करने के तुरंत बाद **1969** में ही वे इस संस्था से जुड़ गए थे। बाइस वर्ष की अवस्था यानी **1970** से उनकी कलम उठी जो आज तक सक्रिय है। **'दिनमान'** में उनकी पहली रचना प्रकाशित हुई। उनका लेखन तथ्यात्मक (रिपोर्ट) और बुनियादी चिंताओं से युक्त है। आज भी खरे हैं तालाब, राजस्थान की रजत बूँदें, साफ माथे का समाज, मिट्टी बचाओ आंदोलन और **चिपको आंदोलन** आदि उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। आज भी खरे हैं तालाब की विश्व **(अंग्रेजी, फ्रेंच)** और भारत की कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। यही उनकी बहुपठित पुस्तक है। यह किताब एक लाख से अधिक पाठकों तक पहुँच चुकी है। **नेशनल बुक ट्रस्ट** (दिल्ली) ने इस पुस्तक के असमिया, उडि़या, कन्नड़, गुजराती, तमिल, पंजाबी, हिंदी और अंग्रेजी संस्करण सन् **2004** में एक साथ प्रकाशित किए।

राजस्थान की रजत बूँदें और साफ माथे का समाज भी पाठकों के बीच समादृत हैं। भारत सरकार ने उन्हें पर्यावरण के क्षेत्र में योगदान के लिए इंदिरा गाँधी पर्यावरण पुरस्कार भी प्रदान किया है।

अनुपम मिश्र की विचार-प्रक्रिया प्रकृति और मनुष्य के सहयोग की आधार भूमि पर खड़ी है। प्राकृतिक संसाधनों और मानवीय जरूरतों में वे सीधा संबध देखते हैं। प्रकृति और पर्यावरण उनके चिंतन के मुख्य आधार तो रहे ही हैं साथ ही उन्होंने इनकी उपयोगिता का ठोस तर्क भी दिया।वे महज एक विचारक ही नहीं वरन एक जागरूक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में समस्याओं से सीधे रूबरू हुए और लोगों को उनके निराकरण के लिए प्रेरित किया। सहभागिता उनका मूल मंत्र है। उन्होंने समाज की असाधारण पाठशाला से भी बहुत कुछ सीखा और उसे हम तक पहुँचाया।

भाषा, बोली और पर्यावरण: संवेदना और प्रतिपाद्य

यह निबंध भाषा, पर्यावरण, और समाज के अंतर्संबंधों की पड़ताल करता है। बोली और भाषा के सह संबंधों की चर्चा करते हुए लेखक ने भाषा और बोली के निर्धारक मानकों पर कटाक्ष किया है।



भाषा निर्माण कैसे समाज की दिशा तय करने लगता इसका सटीक उदाहरण लेखक ने 'विकसित' होने के माध्यम से दिया है। लेखक सवाल करता है कि भाषा और पर्यावरण में पहले क्या बिगड़ना शुरू होता है इस पर अब विचार ही नहीं किया जाता, हम इस दौर को पीछे छोउ़ आए हैं।

लेखक टिप्पणी करता है कि हम 'विकसित' हो गए हैं। यह टिप्पणी अत्यंत महत्वपूर्ण है।पर्यावरण और विकास को- अनुपम जी ने सिद्ध किया है कि-आज के विचारकों ने इन्हें एक-दूसरे का विरोधी मान लिया है। वह भाषा को एक जीवंत शरीर के रुप में परिकल्पित करते हैं। और उसे समाज की विभिन्न हलचलों के लिए जवाबदेह मानते हैं। भाषा केवल अभिव्यक्ति ही नहीं वह हमारी सोच और चिंतन का श्रोत भी है। एक भाषा के भीतर पूरा का पूरा समुदाय अपने अनुभव-सफलता की ऊर्जा और विफलता की खाद दोनों संजोता है। दोनों ही उस समुदाय को आगे बढ़ने और संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं। भाषा अपने परिवेश, मिट्टी, पानी और हवा से ताल-मेल बिठाने का प्राणवान माध्यम है। यानी भाषा और परिवेश दोनों ही मनुष्य के लिए अनिवार्य हैं। लेखक कहता भी है कि भाषा केवल जीभ नहीं वह मन और माथा भी है। अर्थात माध्यम ही नहीं बल्कि सोच और समझ भी है। लेखक चिंता व्यक्त करता है कि जब समाज के कुछ लोगों की समझ बदलने लगती है तो एक नई भाषा प्रकट होती है। इस नर्इ भाषा के खतरों को जागरुक लोग भी नहीं समझ पाते। समझना दूर इसके खतरों की ओर उनका सामान्य सा ध्यान भी नहीं जाता। लेखक इसी सिलसिले में विकास शब्द को बतौर उदाहरण पेश करता है। उसका आरोप है कि हर कोई विकास चाहता है और विकास बिना पर्यावरण को नष्ट किये संभव नहीं। विकास के खतरों से आम आदमी ही नहीं समाज के **बौद्धिक** और सजग लोग भी वाकिफ नहीं हैं। जिसके चलते जहाँ उन्हें इसका विरोध करना था वहीं वे ही इसके पैरोकार हो गये हैं। यह शब्द इतना मोहक और छलिया है कि इसके जाल में वह भी फँस जाता है जो अपनी सोच और समझ के स्तर पर इसके प्रतिपक्ष में हैं। इस शब्द को अंगीकार कर लेने से हम इसके लक्ष्यों को हकीकत में बदलना चाहते हैं। परिणामस्वरुप विकास के पक्षधर हो उठते हैं। यह विकास वही है जो मशीनीकरण, पूँजीवादी, मुनाफाखोर और 'वैज्ञानिक' ज्ञान पर आधारित होता है। ऐसा विकास प्राकृतिक संसाधनों का जरुरत के अनुसार उपयोग करने की बजाय उसके दोहन में विश्वास रखता है। वैज्ञानिक ज्ञान का वितंडा खड़ा करता है और सहज ज्ञान को नकार देता है। इस तरह जब मात्र एक शब्द हमारी भाषा का अंग बनता है तो हमारी पूरी सोच और जीवन शैली तथा परिवेश बदलने लगते हैं। इसलिए भाषा का बदलाव माध्यम का ही बदलाव नहीं बल्कि पूरे समाज का बदलाव है। इसलिए लेखक पर्यावरण के बिगड़ने की चिंता से कमतर भाषा के प्रदूषित होने को नहीं

मानता।

इस निबंध लेखक ने बड़े ही रोचक ढंग से भाषा और बोली का अंतर बताते हुए विकास अवधारणा पर प्रकाश डाला है। विकास की दो अवधारणाएँ केंद्रीकृत और विकेंद्रित मानी जाती हैं। केंद्रीकृत अवधारणा के तहत देश के कुछ हिस्सों और कुछ ही संगठनों को नीति निर्माण की तमाम शक्तियाँ दे दी जाती हैं। जिसके चलते देश का बड़ा भूभाग और बृहत्तर मानव समूह अधिकारों से वंचित रह जाता है। विकेंद्रीकृत विकास प्रक्रिया में देश के हर भूभाग को वहाँ के संसाधनों, जलवायु और जरूरतों के अनुसार विकसित होने का मौका दिया जाता है। निर्णय लेने की शक्तियों का बँटवारा भी हर स्तर पर कर दिया जाता है। लेखक का मानना है कि हमारे देश में विकास की दिशा केंद्रीयता की ओर अग्रसर है। इसे वह भाषा और बोली के अंतर से समझाता है। उसका मानना है कि भाषा और बोली में कोऱ्इ अंतर मूलत: नहीं है। ये दोनों ही अपना समान दर्जा रखती हैं। अभिव्यक्ति और समझ के बनाने में दोनों की एक जैसी ही भूमिका है, लेकिन कुछ चिंतकों ने इन्हीं तमाम बोलियों में से किसी एक बोली को गैर जरूरी तर्क गढ़कर भाषा का दर्जा दे दिया। जो अन्य बोलियों से ऊँचे दर्जे पर विराजमान हो जाती है। इस तरह से बोलियों के भीतर भी एक गैर बराबरी की श्रेणी बना दी जाती है। लेखक मानता है कि ऐसा विभाजन पाखंड ज्ञान पर आधारित है। क्योंकि सभी बोलियाँ **व्याकरण** और ज्ञान के श्रोत के रुप में बराबर की क्षमता रखती है। लेखक इसी बहस से देश के **विकास मॉडल** को व्याख्यायित करता है। उसका तर्क है कि एक भौगोलिक समूह की आवश्यकताएँ जरूरी नहीं कि बिल्कुल दूसरे जैसी हों। मसलन दिल्ली में फ्लैट की जरूरत हो सकती है। लेकिन ऐसी जगहों पर जहाँ घर बनाने के लिए बड़े-बड़े भूखंड खाली पड़े हैं वहॉ ये गैरजरूरी हो जाते हैं। परंतु हमारा नजरिया मिट्टी और छप्पर के घर में रहने वालों को अविकसित और फ्लैट में रहने वाले को विकसित तथा श्रेष्ठ मानने लगता है। लेखक इस तरह की समझ का खंडन करता है।

निबंधकार कहता है कि जैसे बोलियाँ भाषा बनने की दौड़ में शामिल हो जाती हैं, वैसे हमारे समाज के अधिकांश लोग भी सभ्य होने के फेर में पड़ जाते हैं। उनकी सोच और शक्ति इस बात पर लग जाती कि कैसे अपने सुकूनदायी मिट्टी और छप्पर के घर को तोड़ कर फ्लैट का निर्माण किया जाय। इससे अनावश्यक तनाव और कुंठा के सिवा और कुछ भी हासिल नहीं होता।

लेखक ने इस निबंध में विकास शब्द पर करारा व्यंग्य किया है। वह कहता है कि 'हिंदी भाषा में पिछले पचास-साठ बरस में नये शब्दों की पूरी बारात आयी बारातिये एक से एक हैं, पर पहले तो दुल्हे राजा को ही देखें। दुल्हा है विकास नामक शब्द' लेखक कहता है कि इस शब्द ने उन लोगों को जो जल-जंगल के बीच रहते थे उन्हें आदिवासी यानी पिछड़ा हुआ करार दिया। ये वही क्षेत्र थे जहॉ समृद्ध वन, खनिजों की बहुलता और लौह अयस्क के भंडार थे। लेखक व्यंग्य करता है कि संपन्न क्षेत्र पिछड़े कहलाये और इन क्षेत्रों से गये विभिन्न पदार्थों से जहाँ फैक्ट्रियाँ चली वह अगुवा और विकसित मान लिये गये। लेखक आगे चिंता व्यक्त करता कि विकास की ऐसी ही समझ ग्राम विकास, बाल विकास, महिला विकास आदि पर कार्यरत है, जो सिवा नुकसान के फायदा नहीं पहुँचाने वाली।

हर समाज की अपनी जरूरतें होती हैं। विकास के पैमाने इसलिए सार्वभौम नहीं हो सकते। पिछड़ा और विकसित के मायने आज हमें नए सिरे से तय करने होंगे। दुर्भाग्य यह है कि विकास को अंजाम देने के लिए सभी तरह की विचारधाराओं को मानने वाले लोगों में आम सहमति बनी हुऱ्इ है। विकास के प्रचलित ढाँचे को कोई चुनौती ही नहीं दे रहा है। उनकी समझ को इस शब्द ने जकड़ लिया है। लेखक भाषा की ताकत की पहचान भी यहीं करता है। उसका साफ संकेत है कि यदि हम विकास के बरक्स कोई शब्द भाषा में सोच पाते तो विकास की नयी और **वैकल्पिक अवधारणा** को जन्म देते। भाषा, सामाज की दिशा तय करने का औजार बन जाती है। इसी प्रकार लेखक **गरीबी की रेखा** के मानक का हवाला देता है, कुछ माखौल के साथ। गरीबी भी विकास के प्रचलित मानकों से ही तय हो रही है। लेखक कहता कि इस आधार पर देखने से गरीबी कभी खत्म नहीं हो सकती। सबको अमीर भी नहीं बनाया जा सकता। यह गरीबी की रेखा भी एक भाषाई खेल बन कर गयी है। गरीबी के बारे में, उससे होने वाली

तकलीफों के बारे में यह कोई अनुभव नहीं बनाती। यह महज आंकड़ों की भाषा है। निबंधकार का मानना है कि पर्यावरण से संबंधित भाषा भी ऐसी निष्प्राण, ठंडी और मशीनी है। पर्यावरण वैश्विक न होकर निपट स्थानीय होता है। लेकिन इसके बचाव और संरक्षण के दस्तावेज तो देवनागरी में लिखे जा रहे हैं। स्थानीय शब्दों के इस्तेमाल के बिना वृक्ष और वनस्पतियों समेत अनेक पर्यावरणीय घटकों को समझा ही नहीं जा सकता।यानी सरकारी भाषा में लिखे दस्तावेज समस्याओं की सीमित व्याख्या ही कर पाने में सक्षम हैं। लेखक यहाँ भाषा और सामाजिक समस्याओं के बीच अनिवार्य रिश्ते का उल्लेख कर देता है। यह भी साफ संकेत है कि बोलियाँ अपने समुदाय की तकलीफों को बयां करने में सक्षम होती हैं। हमें उनसे सचमुच रूबरू होना है तो इनका मर्म समझना होगा।

लेखक ने सामाजिक वानिकी नामक सरकारी योजना की भी खिल्ली उड़ाते हुए लिखा है कि असामाजिक वानिकी भी कुछ हो सकती है। लेखक कहता है कि यह गढ़ा गया शब्द है। हर गाँव समूह के पास वनों के संरक्षण और वृक्षारोपण के लिए अपने शब्दों का भंडार है। लेखक सूत्रवाक्य कहता है कि 'विचार और व्यवहार का संगठन काफी समय तक रहा है और यह सब इन्हीं बोलियों में सुरक्षित भी रहा है'।यानी जरूरी नहीं कि बोलियों के शब्द की ताकत को अनुपयोगी मानकर त्याग दिया जाय। यदि सामाजिक वानिकी से बेहतर संकल्पना मरुभाषा में ओरण की है तो इसी शब्द को क्यों न अपनाया जाय। ओरणों को अपने बचाव और अस्तित्व के लिए किसी सरकारी योजना की जरूरत नहीं है। ओरण को त्याज्य मानकर जब हम सामाजिक वानिकी को अपना लेते हैं और इसे विकास मानने लगते हैं तो यह एक **विडंबना** ही है। लेखक कहता है कि हिंदी में ऐसे शब्दों की भरमार हो गयी है। भाषा का प्रदूषण हमारी समझ को भी गंदला कर देता है। निबंध स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है कि भाषा का बिगड़ना पर्यावरण के बिगड़ने से कम हानिकारक नहीं है। अपने विचारों को ठोस आधार देते हुए मिश्र जी सरकार की बंजर भूमि विकास, जलागम क्षेत्र विकास योजना आदि का हवाला देता है। सामाजिक वानिकी की तरह ये योजनाएँ भी औपचारिकता के चक्रव्यूह में फँसी दिखाई देती हैं। लेखक आधुनिक शोध दृष्टि पर करारा व्यंग्य करते हुए इनकी निस्सारता को सिद्ध कर देता है। इसे गैर जरूरी मानता है। उसकी स्पष्ट राय है कि उधार के शब्द हमारी वास्तविक जरूरतों को समझने-समझाने के लिए नाकाफी हैं। इस निबंध को आगे बढ़ाते हुए लेखक कहता है कि **जलागम क्षेत्र** के विकास के लिए गजधरों का विशाल संगठन हजारों वर्षों के अनुभव के साथ बिना किसी सरकारी मदद के कार्य करता आया है। लेकिन इसे नजरअंदाज कर एक नया नाम जलागम क्षेत्र विकास कहा जा रहा है। पारंपरिक ज्ञान जरूरी नहीं की हमेशा त्याज्य हो।लेखक बड़ी दृढ़ता से यह मत व्यक्त करता है कि आधुनिक विकास का नजरिया अपने आप में मुक्कमल नहीं माना जा सकता। निबंध में स्थानीयता के महत्त्व को कारगर तरीके से पेश किया गया है। स्थानीय अनुभव, वहाँ का निपट सहज ज्ञान, अपनी समस्याओं की समझ और उनसे जूझने के तौर-तरीकों तथा अपने जीवन को सँवारने के उपायों के लिए हमें स्थानीय समूहों पर ही भरोसा करना चाहिए। यह हमारा अहंकार और अज्ञान ही हो सकता है कि इन समूहों को हम उन्नत और प्रगतिवादी बना सकते हैं। योजनाओं के जरिए विकास का दावा करने वाले खुद तो मुनाफाखोर हैं ही स्थानीय लोगों को भी मुनाफाखोरी का प्रशिक्षण दे रहें हैं। इससे प्रकृति की स्वाभाविक गति अवरुद्ध होती है और मानवता के विनाश का कारण बनती है। आधुनिक विकास इस प्रकार चुपचाप हमें विनाश की ओर धकेलता है। निबंध का समापन करते हुए अनुपम मिश्र **वाणिज्यिक गतिविधि** से अलग जीवन के अन्य लक्ष्यों को संकेतिक करते हैं। यह संकेत नदियों के बहाव का दृष्टांत देते हुए उन्होंने किया है।विकास का सारा नजरिया व्यवसाय मूलक मान लिया गया है। आमदनी और मुनाफे से अलग जीवन का और भी कोई सरोकार है या हो सकता है इसे पूरी तरह नकार दिया गया है। लेखक का मानना है कि जैसे नदी की सहज प्रवाह अपने भीतर उपयोगिता छिपाए हुए है उसी प्रकार भाषा का सहज प्रयोग **संप्रेषण** की संभावना से युक्त होता है। भाषा और पर्यावरण दोनों की स्वाभाविक गति जिसे पहचान कर ही हम उसे 'खारा' होने से बचा सकते हैं। **कृत्रिम भाषा** पर्यावरण के संरक्षण की योजनाओं को भी कृत्रिम ही बना डालती हैं। इसतरह न तो हमारा पर्यावरण बच पाता है और हमारी भाषा अपने ही आँगन में पराई हो जाती है। निबंधकार ने बड़े ही मार्मिक ढंग से भाषा और पर्यावरण के अंतर्संबंधों का निरूपण किया है। अलग-अलग से दिखते दो मुद्दे यहाँ आकर एक दूसरे के पूरक हो गये हैं।

भाषा-शैली और प्रस्तुति

मिश्र सहज भाषा के पक्षधर हैं। विचारों की साफगोई, भाषा और अभिव्यक्ति में सहजता लाती है। अनुपम जी अपने स्पष्ट विचारों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। उनकी यह स्पष्टता एक भाषाई तेवर का निर्माण करती है जिसमें व्यंग्य,व्यौरे और चिंताएँ ठोस ढंग से उभर आते हैं।

इस निबंध के सरोकारों को देखें तो बिल्कुल अलग-अलग से दिखते हैं। एक ओर भाषा और बोली है तो दूसरी ओर पर्यावरण। सामान्य नजरिए से देखें तो ये दोनों विषय असंबद्ध-से दिखाई पड़ते हैं। यह रचनाकार का मौलिक चिंतन ही कहा जाएगा कि उसने इन दोनों मुद्दों को एक सूत्र में पिरो दिया। आज ये दोनों ही सवाल हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हो उठे हैं। पर्यावरण बनाम विकास और प्रबंधन बनाम पारंपरिक सहज ज्ञान में क्या मानवता के लिए हितकर है-यह विचारणीय प्रश्न है। अनुपम जी इस प्रश्न को भाषा और पर्यावरण के मुद्दों से जोड़कर देखते हैं। जब वे कहते हैं कि, 'हम विकसित हो गए हैं' तो इसमें व्यंग्य ही नहीं वेदना का भी इजहार है। इस लेख में रचनाकार भाषा को मात्र जीभ (यानी शरीर का एक मामूली अंग) ही नहीं मानता वरन् उसे मन (सोच, चिंतन) और माथा (बौद्धिक उपक्रम) भी कहता है। भाषा उसके लिए अस्तित्व के बराबर है। और पर्यावरण के बिना भी हमारा अस्तित्व संभव नहीं। इस तरह निबंधकार भाषा और पर्यावरण को हमारे जीवन के महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में स्थापित कर देता है। इसी प्रकार लेखक भाषा और बोली[8] के कृत्रिम विभाजन का भी उपहास उड़ाता है। एक बानगी देखिए, 'हिंदी यदि बोली नहीं है तो भाषा है क्या? ऐसे में क्या वह बोली से, बोलियों से अलग दर्जे पर, ऊँचे पर बैठेगी या इन सबका अलग-अलग होते हुए भी समता का समानता का दर्जा है?' लेखक की यह अपनी विशिष्ट शैली है कि वह भाषा और बोली की बहस खड़ी करते हुए वर्चस्व और अधीनता के प्रश्न को संबोधित करने लगता है। अनुपम जी के निबंध इस अर्थ अपने पाठक से अधिक जागरूकता की माँग करते हैं। इस निबंध में बार-बार यह देखा जा सकता है कि लेखक प्रकट रूप में एक सवाल उठा रहा है लेकिन दूसरे स्तर पर बिल्कुल नयी चुनौतियों की ओर इशारा भी कर रहा है।

यह निबंध वास्तविक समस्याओं और अवधारणात्मक सवालों को साथ-साथ उठाता चलता है। मसलन पिछले **50-60** वर्षों भाषा में आए नए-नए शब्दों की चर्चा के साथ ही वह विकास की पद्धति और इस शब्द के मायावी आकर्षण का उल्लेख करता है। इस शब्द ने भारतीय मनीषा पर ऐसा जाल फेंका है कि सब इसी के पक्ष में खड़े दिखाई दे रहे हैं। लेखक बड़ी कटुता और विक्षोभ से लिखता है कि, 'दुल्हा है विकास नामक शब्द'। यानी सब उसकी बारात में शामिल हो गए हैं। उसके पीछे हो लिए हैं। इतना कहने के बाद वह इस शब्द के अंगीकार होने से हो रही हानियों की चर्चा करता है। इसके चलते जो हमारा सामाजिक-राजनीतिक ढाँचा बदला है और बदल रहा है उसके नाकारात्मक प्रभावों को भी लेखक गिनाता है। इसके कारण कैसे वे लोग 'आदिवासी' और पिछड़े कहे जाने लगे जो कभी आत्मनिर्भर और स्वशासी थे। प्राकृतिक संसाधनों और खनिज पदार्थों से समृद्ध इलाकों को पिछड़ा और उनका दोहन कर अमीर बनी जगहों को उन्नत कहा जाने लगा। लेखक ने हमारी अधकचरी और एकांगी सोच की विडंबना को बड़ी मार्मिकता से उठाया है। वह लिखता है कि, 'कुछ मुट्ठी भर लोग पूरे देश की देह का, उसके हर अंग का विकास करने मे जुट गए हैं। ग्राम विकास तो ठीक, बाल विकास, महिला विकास सब कुछ लाईन में है'। लेखक की यह शैली जहाँ व्यंग्य की मर्यादा में रहती है वहीं वह विकास संबंधी समझ का पर्दाफाश भी कर देती है।

किसी भी समाज में विरोधी स्वर का होना स्वस्थ समाज की निशानी माना जाता है। लेखक यहाँ बड़ी तल्खी से कहता है कि विभिन्न विरोधी स्वर भी विकास के मामले में एकमत हैं। यह उसके लिए आश्चर्य जैसा है। अनुपम मिश्र यहाँ पूरे बौद्धिक समूह को कटघरे में खड़ा करते हैं।

'राजधानी में **पर्यावरण मंत्रालय** से लेकर हिंदी राज्यों के कस्बों, गाँवों तक में बनी पर्यावरण संस्थाओं की भाषा कभी पढ़कर तो

देखें। उनका पूरा साहित्य, लेखन, रिपोर्ट सब कुछ एक अटपटी हिंदी से पटा पड़ा है'। लेखक आगे अनेक ऐसी प्रचलित शब्दावली का उल्लेख करता है जो अपने में हास्यासपद हो जाती हैं। सामाजिक वानिकी, बंजर भूमि विकास, जलागम क्षेत्र विकास, उपयोगकर्ता समूह, वॉटर बॉडी, **पारिस्थितिकी** आदि कुछ ऐसे ही शब्द हैं। इन शब्दों के बनावटीपन को लेखक ठीक-ठीक पहचानता है। इनमें स्वाभाविक ऊष्मा नहीं है। निष्प्राण अवधारणाएँ भोंथरी सोच ही पैदा कर सकती है। फलस्वरूप आम आदमी अपनी भाषा ही नहीं खोता अपनी जीवन-शैली से भी कट जाता है। 'भूमंडलीकरण ने शब्दों में एक मायालोक भर दिया है और उन्हें छल का औजार बना दिया है। वह हम लोगों से एक-एक शब्द छीनता जा रहा है, जो जीवन छीनने के बराबर है। वह हमें निर्वाक कर रहा है- सिर्फ देखते रहो, सुनते रहो खाते-पीते रहो और कहना भूल जाओ'। इस प्रकार भाषा और जीवन के मसले, उसकी चुनौतियाँ और सरोकार एक ही धरातल पर खड़े दिखाई देते हैं। यह निबंध बनावटी और कृत्रिम शब्दों का माखौल ही नहीं उड़ाता अपितु वैकल्पिक शब्दों की प्रस्तावना भी करता है। ये वही शब्द जो लंबे समय तक हमारे साथ रहे हैं। अनुभव इनमें सीझा हुआ है। इसका एक सटीक उदाहरण लेखक ने ओरण पेश किया है। ओरण मात्र एक शब्द ही नहीं पूरी की पूरी जीवन शैली और परंपरा भी है।ऐसे ही वह गजधरों के संगठनों का उल्लेख करता है जो जल प्रबंधन को पहले से ही अंजाम देते रहे हैं। सरकारी संस्थाओं के बरक्स यह संगठन कम महत्त्वपूर्ण नहीं किंतु इसे बचाने और मजबूत करने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया।निबंध के समापन पर लेखक कहता है, '**.............**अपनी भाषा अपने ही आँगन में विस्थापित हो रही है। वह अपने ही आँगन में पराई बन रही है'। इसे केवल भाषा के ही संदर्भ में नहीं समझना चाहिए वरन् वह हमारी समूची सोच, चिंतन प्रणाली, मूल्य विधान और अनुभव की बनावट तथा जीवन शैली पर की गयी मार्मिक टिप्पणी है। भाषा, बोली और पर्यावरण निबंध में विभिन्न मुद्दों का समुच्चय है। अपने ऊपरी कलेवर में तो यह निबंध भाषा और पर्यावरण जैसे प्रश्नों को ही संबोधित करता दिखाई पड़ता है परंतु इसकी अंतर्संरचना अनेक बहसों को सिमेटे हुए है। भाषा को लेखक केवल अभिव्यक्ति का माध्यम न मानकर सामूहिक समझ और विचार-प्रणाली के रूप में संकल्पित करता है। इसी प्रकार भाषा और बोली के ही मसले को अनुपम जी समता के विमर्श में तब्दील कर देते है। अगड़े और पिछड़े की प्रचलित धारणाओं को बदलने भी यह बहस सहायक होनी लगती है। दुनिया में वर्चस्व और अधीनता का प्रश्न अनेक स्तरों –अंतरराष्ट्रीय, देश, समाज और परिवार आदि-पर मौजूद है। निबंधकार भाषा और बोली की चर्चा करते हुए इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। भाषा में भर्ती के शब्दों का प्रवेश मात्र भाषा को ही दूषित नहीं करता अपितु वह समझ और सहज ज्ञान को भी नकार देता है और अन्ततः हम उस पर भरोसा करना छोड़ देते हैं। भाषा और अनुभव कैसे एक दूसरे से संबंद्ध है, लेखक साफ ढ़ंग से संकेतित करता है।

देश की आजादी के बाद विकास की जो प्रणाली हमारे रहनुमाओं ने अंगीकार की वह पश्चिमी ढाँचे पर आधारित थी। इसमें हमारे पारंपरिक ज्ञान का वर्षों से संचित अनुभव का लगभग निषेध था। इस निबंध में लेखक हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट करता और विकास संबंधी समझ को चुनौती देता है। प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और उससे पायी अमीरी को भी लेखक एक बड़े नुकसान के रूप में देखता है। यह दोहन वर्तमान में भले ही समृद्धि लेकर आ रहा हो, लेकिन भविष्य में उजाड़ पैदा करने की प्रबल संभावनाओं को भी जन्म देती है। **मुनाफाखोरी** के ही मकसद को ही जीवन का परम लक्ष्य मान लेने के खतरों का खुलासा भी निबंधकार नदियों के बहाव से करता है। मोटे तौर यह निबंध कम शब्दों में बहुआयामी फलक लिए हुए है।

चिंताओं को व्यक्त करने की एक विशिष्ट शैली अनुपम मिश्र के पास है। लगता है जैसे वह संसाधनों को किफायत से खर्च करने की बात करता है वैसे ही शब्दों की मितव्ययिता भी इस निबंध में देखने को मिलती है। जहाँ जरुरी लगा है वहाँ व्यंग्य का सहारा लिया है। माथा शब्द का प्रयोग वह विशेष संदर्भ में करता है। इसमें हमारी सोच और समझ भी समाहित है। 'शब्दों की पूरी की पूरी बारात आयी है' जैसे **मुहावरे** का प्रयोग हुआ है जो संप्रेषण को सुनिश्चित तो करता ही है साथ ही, खतरे से आगाह करने में भी सफल होता है। इस लेख में ज्ञान की परंपरा और भाषा के सह-संबंध का भी विवेचन है। लेखक की बिल्कुल साफ समझ है कि भाषा का बदलाव हमारे ज्ञान को भी बदल देता है। इसके चलते सामाजिक ताना-बाना और जीवन की जरुरतें भी

बदलने लगती हैं। हम उन विचारों और वस्तुओं को अपनाने लगते हैं, जिनकी हमें आवश्यकता ही नहीं।

यह निबंध एक खास दृष्टिकोण को हमारे समक्ष रखता है। पूँजीवादी सोच और विकास पद्धति को इसमें चुनौती दी गयी है। यह काम लेखक बड़े कौशल से करता है-बिना इसका नाम लिए हुए। भारतीय ज्ञान और समझ के प्रति भी लेखक आस्था जगाता है। ऐसा करते हुए भी वह अपनी कुशलता का परिचय देता है। भारतीयता को ही 'सर्वश्रेष्ठ' सिद्ध करने का अविवेकी दावा वह कहीं नहीं करता। उसका मानना है कि हिंदुस्तानी समाज 'मद' (अहंकार) का नहीं 'मस्ती' (आनंद) का समाज रहा है जो अपनी चुनौतियों और जरूरतों को अपने ज्ञान से हल करता आया है। और उसका ज्ञान उसकी भाषा में ही सुरक्षित रह सकता है। अनुपम मिश्र वैकल्पिक दृष्टि के रचनाकार हैं। जब समाज के अधिकांश बुद्धिजीवी एक ही दिशा में सोच रहे हों तो मिश्र जी जैसे लेखकों का मोल बढ़ जाता है। भाषा,बोली और पर्यावरण निबंध साहित्यकार का ही विचार नहीं वरन् उसमें आंदोलनकारी का ताप भी मौजूद है। जटिल समस्या को सहज भाषा में बताया जा सकता है इसे हम इस लेख के जरिए सीख सकते हैं। सहजता तो विचारों में भी ही। तमाम प्रश्न पेड़ की शाखाओं की तरह फूटते चले जाते हैं। फिर भी वे एक दूसरे से जुदा नहीं दीखते। एक विचार से दूसरे तक की आवाजाही भी बड़ी सुगम है। इससे निबंध का प्रवाह टूटता नहीं।

विवेचन/निष्कर्ष

इस निबंध में एक ओर सरकारी योजनाओं की कार्यप्रणाली पर प्रश्नचिह्न तो खड़ा किया ही गया है साथ ही इन योजनाओं को लागू करने की भाषा को भी लेखक कटघरे में लाता है। आम लोगों के लिए बनी योजनाएँ भाषाई दुरुहता के चलते उनकी समझ से परे हो जाती हैं। लेखक इस विडंबना की ओर हमारा ध्यान खींचता है।

यह लेख वैचारिक कौशल का दस्तावेज है। इसमें भाषा, विकास, बौद्धिक उपक्रम, पर्यावरण, सांस्कृतिक मूल्य, जीवन-शैली, मनुष्य और प्रकृति का संबंध, अमीरी- गरीबी,अगड़े-पिछड़े क्षेत्र आदि विविधतापूर्ण मसलों को एक साथ बुना गया है। जरूरत है कि इसी बहुआयामिता में इसे पढ़ा जाये |

अभ्यास के लिए प्रश्न

1.वैश्वीकरण से आप क्या समझते हैं**?**

2.उपभोक्तावाद की संस्कृति का क्या अर्थ है**?**

3.उपभोक्ता संस्कृति और मीडिया के अंतर्संबंध की चर्चा कीजिए।

4.श्यामाचरण दुबे की दो महत्तवपूर्ण पुस्तकों का नाम बताइए।

5.'समय और संस्कृति' पुस्तक का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

6.विज्ञापन क्या होते हैं**?**

7.ब्रांड का क्या मतलब है**?**

8.सांस्कृतिक अस्मिता का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए।

9."उपभोक्ता संस्कृति हमारी सामाजिक नीव को ही हिला रही है"**,** विवेचन कीजिए।

(ii) अभ्यास के लिए प्रश्न

1. अनुपम मिश्र की उस पुस्तक का नाम बताइए जिसकी एक लाख से अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं।
2. अनुपम मिश्र का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
3. भाषा और पर्यावरण के संबंध पर प्रकाश डालिए।
4. लेखक ने 'विकास' शब्द का प्रयोग किन अर्थों में किया है**?**
5. भाषा और पर्यावरण नामक निबंध किस पुस्तक से लिया गया है**?**
6. उक्त निबंध का प्रतिपाद्य बताएँ।
7. लेखक की व्यंग्य दृष्टि की विवेचना कीजिए।
8. विकास की अवधारणा का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
9. 'ओरण' क्या होते है**?**
10. प्रकृति और मनुष्य के सह संबंधों की विवेचना कीजिए।
11. 'अपनी भाषा अपने ही आँगन में विस्थापित हो रही है' समीक्षा कीजिए।

(iii) अभ्यास के लिए प्रश्न

1. संस्कृति और व्यावसायिकता**,** रमेश उपाध्याय एवं संज्ञा उपाध्याय (सं**0),** शब्दसंधान**,** नयी दिल्ली
2. सांस्कृतिक साम्राज्यवाद**,** रमेश उपाध्याय एवं संज्ञा उपाध्याय (सं**0),** शब्दसंधान**,** नयी दिल्ली
3. निबंध निलय**,** डॉ**0** सत्येंद्र (सं**0),** वाणी प्रकाशन**,** दिल्ली

4. निबंध श्री, प्रो. सुरेशचंद्र गुप्त (सं0), ऋषभ चरण जैन एवं संतति, नयी दिल्ली
5. जनसंचार माध्यमों का वर्ग चरित्र, रेमंड विलियम्स

संदर्भ स्त्रोत (I)

1. समाज और पर्यावरण, प्रगति प्रकाशन, मास्को।
2. भाषा और भूमंडलीकरण, रमेश उपाध्याय एवं संज्ञा उपाध्याय (सं0), शब्दसंधान, नयी दिल्ली
3. वर्तमान विकास की सीमाएँ, सच्चिदानंद सिन्हा, विकल्प प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, बिहार
4. विकल्पहीन नहीं है दुनिया, किशन पटनायक, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
5. भाषा और समाज, राम विलास शर्मा
6. **www.hi.wikipedia.com**
7. **www.du.ac.in/**
8. **www.hi.wikipedia.com**
9. **www.samatavadi.wordpress.com**